सिद्ध अर्थ

एक सामूहिक यात्रा की स्मृतियां

राजाराम भादू

सिद्ध - सोसायटी फोर इंटीग्रेटेड डेवलपमेंट ऑफ हिमालयास मसूरी में कार्यरत संस्था है जिसने ग्रामीण विकास और शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है। प्रस्तुत पुस्तक 'सिद्ध अर्थ : एक यात्रा साथ-साथ' संस्था से संबद्ध रहे विभिन्न लोगों की वैयक्तिक स्मृतियों का संचयन है जिसे सितम्बर, 2017 में सिद्ध ने ही प्रकाशित किया है।

लोकतंत्र में नागरिक समाज की पहल पर स्वयंसेवी संस्थाएं-संगठन बनते हैं और राज्य के तंत्र के समानान्तर विकास के किसी पक्ष से जुड़े कार्य करते हैं। कई बार ऐसी संस्थाएं अभिनव प्रयोगों अथवा नवाचारों के माध्यम से विकास प्रक्रिया का कोई मॉडल प्रस्तुत करती हैं। लेकिन इस मॉडल की सफलता तब समझी जाती है जब वह वृहद पैमाने पर क्रियान्वित किया जाए और तब भी परिणाम अपेक्षित मिलें। लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में नीति नियंताओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे ऐसे स्वतंत्र प्रयोगों और नवाचारों पर नजर रखें और उपयुक्त पाने पर इन्हें अपनी योजनाओं और कार्यक्रमों में शामिल करें ताकि ये अपनी तार्किक परिणति तक पहुंच सकें। इन संस्थाओं-संगठनों की प्रतिष्ठा सामान्यतः इनके द्वारा खोजे अथवा सोचे गये प्रयोगों-तरीकों के वृहद स्तर पर अपनाये जाने से जुड़ी होती हैं। नागरिक समाज के संदर्भ में यह एक उल्लेखनीय तथ्य है।

'सिद्ध' अपने को संस्थाओं की इस प्रचलित पहचान से अलग कर देखता है। यहां हम उन संस्थाओं पर तो विचार ही नहीं कर रहे हैं जिनका उद्देश्य सिर्फ विभिन्न एजेन्सियों से प्रोजेक्ट हासिल कर उनका क्रियान्वयन करना मात्र है। सिद्ध के संदर्भ में महत्वपूर्ण यह है कि उसने अभिनव प्रयोग किए, अपने स्तर पर इन्हे विस्तार भी दिया। लेकिन ये प्रयोग अथवा नवाचार अन्यत्र बड़े पैमाने पर प्रयुक्त किए गए हों ऐसा उल्लेख इस पुस्तक में नहीं मिलता।

'सिद्ध' के संस्थापकों में से एक पवन कुमार गुप्ता अपने आरंभिक लेख में कहते हैं कि सिद्ध में ऐसे बहुत से काम हुए हैं जो प्रायः ग्रासरूट एनजीओ कही जाने वाली संस्थाओं में नहीं होते। इसमें पत्रिका (रैबार) निकालना, सेमिनार, गोष्ठियां इत्यादि तो हैं ही, इसके अलावा हमारे तरीके भी अलग रहे हैं। एक समय हम लोग कहते थे कि जितने पैसे 'सिद्ध' ने संस्थाओं से लिये उससे ज्यादा लौटाए क्योंकि हमारा संस्थाओं की शर्तों और इसके पीछे की राजनीति से मतभेद था। वे बताते हैं कि 'सिद्ध' कोई सोची-समझी योजना के अन्तर्गत नहीं बना। यह तो बस हो गया... 'सिद्ध' की उत्पत्ति बहुत ही सहज ढंग से हुई। उनके अनुसार 'सिद्ध' के प्रशंसक ही नहीं, उसके आलोचक भी यह मानते हैं कि हमने लीक से हट कर कुछ काम किए और आज भी छोटे पैमाने पर कर रहे हैं। एक जमाने में हमें 'विकास विरोधी' कहा जाता था, और इस टिप्पणी पर हमारे साथी खुश होते थे। पवन गुप्ता की मान्यता है कि संस्था एक जरिया होती है या होनी चाहिए

काम करने का। एक समय बाद यह आपको हांकने लगती है। आप उससे बंध जाते हैं। और पैसे की तो अपनी गति होती है। ज्यादा पैसा आपको चलाने लगता है। इसीलिए पवन जी ने काम करने की शैली को सहज रखा और इसे किसी प्रणाली में बांधने की कोशिश नहीं की क्योंकि उनका मानना रहा है कि संवदेनशीलता तथा लचीलेपन और प्रणाली व अत्यधिक नियम कानूनों के बीच एक विरोध होता है। हर व्यक्ति एक अलग व्यक्तित्व, रुझान, कमजोरी, ताकत, जटिलताओं और मान्यताओं का एक अनूठा संयोग होता है। संस्थाओं के नियम अगर कठोरता से सब पर एक समान लागू किए जाएं तो जो जिम्मेदार होते हैं उन पर अन्याय होता है और जो दूसरी तरह के होते हैं वे बड़ी चालाकी से नियमों के बावजूद अपना रास्ता, पतली गली से निकाल लेते हैं। आधुनिकता की 'सब पर एक-सा नियम' वाली दुहाई सुनने में अच्छी लग सकती है और रास्ता भी आसान जरूर कर देती हे पर इसमें भारी नुकसान भी है।

समाजशास्त्री धीरूभाई ने कहा था कि 'सिद्ध' एक संस्था से ज्यादा एक (वैचारिक) आन्दोलन है। पवन गुप्ता इससे सहमति जताते हुए कहते हैं, कोई संयोग ही था कि हमें जल्द ही श्री किशन पटनायक, सादौग टींपोचे जी, धर्मपाल जी, धीरू भाई सेठ, बाबा नागराज और बाद में रवीन्द्र शर्मा 'गुरुजी' जैसों का अनायास ही सहयोग, साथ और (परोक्ष रूप में) मार्गदर्शन मिलता रहा, हमारी समझ में वृद्धि और उसकी पुष्टि भी होती रही। इनमें वे सुनील सहस्त्रबुद्धे, अरुण कुमार 'पानी बाबा', गणेश बगड़िया और रण सिंह आर्य जैसे लोगों को और जोड़ते हैं। वे मानते हैं कि अध्यात्म भी मनुष्य की एक बुनियादी जरूरत है। लगभग ढाई दशक जमीनी कार्य करने के बाद इसे विस्तार देने की बनिस्पत सीमित करने के संदर्भ में मित्रों द्वारा अपनी एक आलोचना पर सहमति जताते हैं कि हमने संस्था निर्माण का काम नहीं किया। उनका तर्क है कि 'छोटे' में जो सघन काम होता है वह 'बड़े' में होना संभव नहीं। ...दरअसल हमें समझना पड़ेगा कि मात्रात्मक और गुणात्मक या कहें भौतिक (दिखाई देने वाली) सोच और अभौतिक (जो गहरे में, न दिखाई देने वाला पक्ष है) में गुणात्मक पक्ष की महत्ता है जबकि वर्तमान समय में कोशिश यह हो रही है कि गुणात्मक पक्ष को मात्रा में परिवर्तित किया जाए, जो अंततः असंभव है। 'सिद्ध' ने हमेशा ही गुणात्मक पहलुओं को प्राथमिकता दी है।

एक संस्था के रूप में 'सिद्ध' की शुरुआत 1989 में हुई। 1991 से देश में आर्थिक उदारीकरण और दुनिया में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया आरंभ हुई। 1996 में 'नई आर्थिक व्यवस्था पर पुनर्विचार : गांधी और उसके परे' विषय पर हुए छह दिवसीय विमर्श को अपने दूसरे लेख में पवन गुप्ता 'सिद्ध' के लिए एक प्रस्थान बिन्दु मानते हैं। जैसा कि उन्होंने लिखा है, उसके तुरंत बाद ही यह फैसला हुआ कि हम अपने को शिक्षा के क्षेत्र तक ही सीमित रखेंगे। काम बहुत से करने जैसे हैं पर हमारी सीमाएं हैं और समाज में सार्थक परिवर्तन दो ही कामों से आ सकते हैं - राजनीति और शिक्षा। 'सिद्ध' के कामों को रूपायित करने और दिशा देने में वे आरंभिक संवादों और विमर्शों की निर्णायक भूमिका मानते हैं जो सामान्यतः प्रोजेक्टों के दायरे में नहीं आते। इस क्रम में 'महिलाओं के मुद्दे कितने अपने पराये, आधुनिक विज्ञान और तकनीकी का दर्शन और राजनीति और 'स्थानीयता और क्षेत्रीयता' पर विमर्श तथा 'हिमालय रैबार' पत्रिका का प्रकाशन शामिल हैं। इस संदर्भ में 'गुणवत्ता का मामला', 'बच्चे और परिवार' तथा 'पाठ और विषयवस्तु' पर हुए शोध-अध्ययनों का उल्लेख किया गया है। इस लेख के अंत में भी पवन गुप्ता महसूस करते हैं कि 'सिद्ध' में हम कभी भी मुख्य धारा से मेल नहीं बैठा पाए। अपनी वर्तमान स्थिति से भी वे निराश नहीं हैं, वे कहते हैं... निराशा और हताशा में फर्क है। निराशा के अपने कर्त्तव्य होते हैं।

'सिद्ध' की संस्थापक सहयोगी अनुराधा ने अपने लेख में संस्था के आरंभिक दशक पर फोकस किया है। 'सिद्ध' ने टिहरी गढ़वाल में जौनपुर जनपद के ऐसे गांव में शिक्षा की शुरुआत की जहां कोई स्कूल नहीं था। शिक्षा के साथ ही उन्होंने महिलाओं को संगठित करने का कार्य आरंभ किया। वे लिखती हैं, महिलाओं और गांव समाज के लोगों ने गांव में वर्तमान शिक्षा की प्रासंगिकता पर सवाल उठाकर, आधुनिकता की कड़ी आलोचना करने का साहस किया। सीधे लेकिन पैने प्रश्न जैसे- 'पढ़ा लिखा फिट कहां होता है? अगर गांव का बच्चा शहर में और शहर का बच्चा विदेश में 'फिट' होता है तो हमारे देश और गांव का क्या होगा? इन प्रश्नों ने हमारी मान्यताओं को हिला दिया और हमें सोचने को मजबूर कर दिया। इन प्रश्नों के सहारे ही 'सिद्ध' ने शिक्षा को प्रासंगिक बनाने के कई प्रयोग किए।

आधुनिक शिक्षा ने स्थानीय जीवन से जो अलगाव पैदा किया है उसे दूर करने के लिए लोक ज्ञान को शिक्षा से जोड़ने का एक नया आयाम खुला।

अनुराधा एक और शोध का उल्लेख करती हैं- 'माउंटेन चिल्ड्रन' और बताती है, लेकिन ये अध्ययन किसी कारणवश प्रकाशित नहीं हो पाए। इनमें शामिल था- सभी प्रचलित स्कूलों की पाठ्यपुस्तकों का विश्लेषण, जौनपुर क्षेत्र के सभी त्यौहारों व जन्म से मृत्यु तक के होने वाले रीति-रिवाजों का सर्वेक्षण और इस क्षेत्र के मिथक, लोक गाथा और लोक गीतों का एकत्रीकरण आदि। इस अध्ययन करने की प्रक्रिया में 'सिद्ध' की टीम ने बहुत कुछ सीखा।

पवन और अनुराधा- जो 'सिद्ध' के संस्थापक हैं के अतिरिक्त इस संचयन में उनके मित्रों, सहयोगियों और कार्मिकों के 50 से अधिक संस्मरण-आलेख और दो दर्जन से अधिक अवलोकन टिप्पणियां हैं। इनमें स्वाभाविक ही एक किस्म का नोस्टेल्जिया है जो स्मृतियों में प्रायः जाने-अनजाने समाहित हो जाता है। साथ ही एक कृतज्ञता भाव है और सभी ने 'सिद्ध' से जुड़े अपने अनुभवों और संबद्धताओं को व्यक्तिशः सिखाने वाला और समृद्धिकारी पाया है। तो यह 'सिद्ध' का कोई वस्तुपरक मूल्यांकन नहीं है और इस संचयन का यह घोषित उद्देश्य भी नहीं है। 'सिद्ध' द्वारा यह तय किया गया है कि उससे जुड़े सभी लोग वर्ष में एक बार मिलें और संवाद-साहचर्य का आयोजन करें। ऐसे दूसरे मित्र-मिलन में इस संचयन की रूपरेखा बनी और यह सामने आया। इन स्मृतियों के सहारे सिद्ध की कालक्रम से इतर एक बढ़ती-घटती सक्रिय छवि बनती है, जिसमें एक समूह मिलकर कुछ कर रहा है। इस समूह में कोई चला जाता है तो नया आ जाता है और फिर एक ऐसा समय आता है कि ज्यादातर लोग चले जाते हैं। जो रह जाते हैं, वे निराशा के कर्त्तव्यों के तहत अपने स्तर पर कुछ चीजें जारी रखते हैं और बाकी सबसे भी जुड़े रहने के लिए एक महीन धागे की तरह वार्षिक मित्र-मिलन का आह्वान करते हैं। जो दूर चले गये हैं, उनके साथ 'सिद्ध' की स्मृतियां और उसके प्रति सदेच्छाएं हैं।

'सिद्ध' में शिक्षा पर गांधी विचार का निर्णायक प्रभाव था। अपने स्कूलों में वहां अक्षर ज्ञान के लिए भी ग्राम अध्ययन का सहारा लिया जाता था। अपने इतिहास, अपनी पंचायत, अपने निरक्षर माने जाने वाले किसान और कारीगर की पेड़-पौधों और गणित की समझ और अपने ही बीच से ऐसे नायकों के अध्ययन को शिक्षा का आधार बनाया था। सिद्ध पाठशालाओं के शिक्षक ग्राम विकास के अन्य कामों की भी जिम्मेदारी संभालते थे। गांधी जी के अपने समय से लेकर अब तक उनके शिक्षा से जुड़े विचारों को मुख्यधारा शिक्षा में आंशिक सफलता भी नहीं मिली है। यही बात कोई शांति निकेतन और ऋषि वैली के लिए भी कह सकता है। लेकिन इनमें और बुनियादी शिक्षा में एक बुनियादी अंतर है। शांति निकेतन और ऋषि वैली के प्रयोग एक खास और सीमित वर्ग को ही संबोधित थे। जबकि बुनियादी शिक्षा इस देश के व्यापक वर्गों के बच्चों के लिए प्रस्तावित की गई, बल्कि कई बार उसमें शासकीय संसाधन और शक्तियां भी नियोजित की गईं। 'सिद्ध' की पहल अधिक स्वतंत्र और अभिनव थी, फिर भी इसका हाशिये पर रह जाना गंभीर सबक दे सकता है। लेकिन इस संचयन में कार्मिकों के बहुत विश्लेषण नहीं हैं और उनकी स्वीकृतियां तो नितान्त व्यक्तिगत हैं।

कालान्तर में 'सिद्ध' का काम एक गांव से लेकर 40 गांवों तक फैल गया। जाहिर है कि शिक्षा शून्यता में नहीं होती। वह अपने परिवेश की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सांस्कृतिक व सभ्यतागत स्थिति से प्रभावित होती है और उसे प्रभावित भी करती है। इस ढाई दशक के काल में 'सिद्ध' ने शैक्षिक कार्मिकों का एक बड़ा समूह तैयार किया। 'सिद्ध' के स्कूलों में पढ़े बच्चे आज सरकारी व गैर-सरकारी संस्थानों में नौकरी कर रहे हैं, उनमें से कई अपने समाज का नेतृत्व करने के लिए तैयार हो रहे हैं। 'सिद्ध' में बच्चे की प्रगति और चुनौतियों को अभिभावकों से साझा किया जाता था।

'सिद्ध' के एक कार्यकर्ता जितेन्द्र ने अपने अनुभव में लिखा है, मनुष्य-मनुष्य का संबंध उतना ही प्राकृतिक है जितना प्रकृति में मनुष्य का अस्तित्व। दर्शन भी कोई स्थिर चीज नहीं है। इस अर्थ में 'सिद्ध' का एक व्यक्तिगत रूप है जो

हर सिद्ध से जुड़े व्यक्ति के द्वारा परिभाषित होता है और एक साझा रूप है जिसे हम सभी को मिलकर परिभाषित करना है। जितेन्द्र ने स्वीकार किया है कि तथाकथित मुख्यधारा का प्रभाव इतना जबर्दस्त है कि आज जौनपुर 'सिद्ध' की विकास की अवधारणा की उलट दिशा में तेजी से बढ़ा जा रहा है। उस मुख्यधारा से हट कर हम कुछ कर पाएंगे, ऐसा मानना ही अपने आपमें एक काल्पनिक दुनिया में जीने जैसा लग सकता है। दूसरा संस्थागत स्तर पर भी प्रश्न उठ सकते हैं कि एक समय के बाद हम खुद एक संस्थान के रूप में भी सामूहिक रूप से कोई दिशा नहीं तलाश पाए और अपने-अपने रास्ते चल दिए। वे शायद ऐसा सोचते हैं कि 'सिद्ध' अब एक इतिहास है।

एक और कार्यकर्ता भुवन पाठक थोड़ा व्यंग्यात्मक लहजे में लिखते हैं, 'सिद्ध' अब धीरे-धीरे विद्या के गूढ विमर्श का केन्द्र बन गया था। उत्तराखण्ड के ग्रामीण परिवेश के युवाओं की जगह शहरी पढ़े-लिखे युवा अधिक आकर्षित होकर आने लगे। ... 'सिद्ध' के महत्वपूर्ण साथी भी... पवन जी की हर बात में हां में हां मिलाने या उसी दिशा में सोचने के अभ्यस्त हो गए। पवन जी को भी यह अच्छा लगता था। कभी-कभी दीदी (अनुराधा-सह संस्थापक) सवाल उठाती तो पवन जी के पास पर्याप्त तर्क होते थे और इसीलिए विपश्यना से लेकर जीवन विद्या तक जो भी विचार आया सब उसमें जुड़ गए। ...जब मैंने यह समाचार सुना कि जगमोहन और जितेन्द्र ने 'सिद्ध' से अलग होने का मन बनाया है। मेरे मन में सीधे यह विचार आया कि स्वतंत्र रूप से सोचना शुरू करते ही यही होना था।

'सिद्ध' के संकुचन की कुछ वजहें तो ऊपर की अभिव्यक्तियों में परिलक्षित हो रही हैं लेकिन कुछ अन्य अभिव्यक्तियों से पता चलता है कि 'सिद्ध' के दीक्षित अधिकांश कार्यकर्ता उत्तरांचल में शुरू हुए अजीम प्रेमजी फाउण्डेशन में गए जहां का वेतन 'सिद्ध' से कई गुना अधिक था और उसके समक्ष 'सिद्ध' का उस रूप में टिके रहना शायद संभव ही नहीं था।

इस संचयन में रोचक वृतान्त हैं और इनमें भी अधिक वे हैं जिनमें कार्यकर्ता 'सिद्ध' के स्कूलों में ही पढ़े और फिर इनमें पढ़ाने लगे। इसे सुखद ही मानना चाहिए कि इनमें से कई मानते हैं कि 'सिद्ध' जिस दिशा में चल रहा था या चल रहा है वह संभवतः वर्तमान काल की समस्याओं का सबसे सटीक विकल्प है। ◆

पुस्तक : 'सिद्ध अर्थ' एक यात्रा साथ-साथ

प्रकाशक : सोसायटी फॉर इन्टरीग्रेटेड डेवलबमेंट ऑफ हिमालायास, लंढौर केन्ट, मंसूरी-248179 उत्तराखण्ड

लेखक परिचय : 'शिक्षा विमर्श' के संस्थापक संपादक, द्वैमासिक 'संस्कृति मीमांसा' के संपादक, स्वयंसेवी संगठन समान्तर 'सेन्टर फॉर कल्चरल एक्शन एण्ड रिसर्च' के कार्यकारी निदेशक (मानद) हैं।

संपर्क : 9828169277; samantarcsc@gmail.com